

## ग्लोबल गांव के देवता में वैश्वीकरण की चुनौतियों के निहितार्थ

सगीर अहमद

नावरिया हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली शोधार्थी सगीर अहमद हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली, भारत

### प्रस्तावना

अदम गोंडवी की चर्चित पंक्ति है—

‘वेद में जिनका हवाला हाशिए पर भी नहीं

वे अभागे आस्था विश्वास लेकर क्यों करें,

लोक रंजन हो जहां शम्बूक—वध की आड़ में

उस व्यवस्था का घृणित इतिहास लेकर क्या करें।

रणेंद्र अपने उपन्यास ‘ग्लोबल गांव के देवता’ में एक ऐसे ही संघर्ष की आंच में तप रहे वर्ग का यथार्थ चित्रण किया है, जो सदियों से दमित, शोषित, और विस्थापित होने का दर्द झेल रही है। जिसे हम ‘आदिवासी’ समुदाय के रूप में जानते हैं। भारत में वैश्वीकरण के लगभग तीन दशक बीत जाने के बाद तथा एक नई उभरती अर्थव्यवस्था के तथाकथित सुखानुभूति में भी यह वर्ग कमोवेश उसी स्थिति में राजनैतिक एवं प्रशासनिक अव्यवस्थाओं के बीच पिस रहा है।

भारत में वैश्वीकरण की शुरुआत 20 वीं सदी के अंतिम दशक में हुई, जिसे आर्थिक उदारीकरण का दौर भी माना जाता है। हालांकि शब्दार्थ रूप में वैश्वीकरण शब्द का प्रयोग पिछले कई दशकों से कई क्षेत्रों में हो रहा था। सर्वप्रथम इसका प्रयोग 1930 के आस-पास शिक्षा के क्षेत्र में कोलंबिया विश्वविद्यालय के शिक्षा दर्शन के अध्यापक शॉर्बर्ट ब्रूस रॉपश ने अपनी पुस्तक ‘ट्रवर्डर्स न्यू एजुकेशन’<sup>1</sup> में ग्लोबलाइजेशन के संदर्भ में किया और फिर धीरे-धीरे 1960 ई. में ग्लोबलाइजेशन शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्रियों और समाजवैज्ञानिकों के बीच प्रचलित हुआ। 1962 ई. में कनाडा में अंग्रेजी साहित्य के प्रोफेसर ‘मार्शल मैक लुहन—ने वैश्विक विलेज’<sup>2</sup> शब्द युग का प्रयोग किया था। व्यापक स्तर पर देखा जाय तो वैश्वीकरण के केंद्र में विश्व की अर्थव्यवस्थाओं का एकीकरण अथवा विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं से जुड़ने की प्रवृत्ति, नए बाजारों की स्थापना, मुक्त व्यापार आदि भाव इसमें दिखाई देते हैं।

ऑक्सफोर्ड एडवांस लरनर डिक्शनरी के अनुसार— ‘वैश्वीकरण बहुराष्ट्रीय कंपनियों और बेहतर संचार के प्रभाव से दुनिया भर की भिन्न संस्कृतियों और आर्थिक अर्थव्यवस्थाओं का एक दूसरे से जुड़ते जाना और समान होते जाना ही है।’<sup>3</sup>

वैश्वीकरण की परिभाषा देते हुए डॉ. पुष्पपाल सिंह लिखते हैं— ‘वैश्वीकरण एक ऐसी धारणा है, जिसका मूलधार बाजार, बाजारवाद और उपभोक्तावाद है।’<sup>4</sup>

1991से लेकर अब तक विश्व पटल पर औद्योगिक एवं संचार क्रांति को देखते हुए अर्थशास्त्रियों एवं अन्य विद्वानों जो कि वैश्विक अर्थव्यवस्था की अच्छी समझ रखते हैं वे भारत में वैश्वीकरण को एक नए परिवर्तन बिंदु के रूप में देखते हैं साथ ही यह भी बताते हैं कि किस प्रकार स्वतंत्रता के बाद तीन बड़े युद्धों एवं अकाल की विभीषिका ने हमारी अर्थव्यवस्था को उगमगा दिया था तत्पश्चात् 1991 का आर्थिक उदारीकरण कितना कारगर साबित हुआ जो आज हम एक बड़ी उभरती अर्थव्यवस्था के रूप में अपने आप को देख पा रहे हैं। डॉ. अभय कुमार दुबे के शब्दों में— ‘आजादी रात के बारह बजे मिली थी लेकिन उसके तकरीबन

44 साल बाद (24 जुलाई 1991) जो सुबह आयी उसने एक नई उद्योग नीति की घोषणा की यह भारत के ग्लोबलाइजेशन यानी भूमंडलीकरण की शुरुआत थी।<sup>5</sup> प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन भूमंडलीकरण के समर्थकों के हवाले से लिखते हैं कि यह पश्चिम की बड़ी उपलब्धि है जो चहुँ ओर पहुंच रही है— ‘भूमंडलीकरण न केवल अच्छा है बल्कि यह दुनिया को पश्चिम का तोहफा है।’<sup>6</sup> अर्थशास्त्रीय दृष्टि से तथा भारत की अर्थव्यवस्थाओं को देखते हुए आज जबकि भारत, अमेरिका, चीन जापान, जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन को छोड़कर 6 वीं बड़ी अर्थव्यवस्था है, के संदर्भ में बात की जाय तथा 30 वर्षों के आर्थिक आँकड़ों का सर्वेक्षण देखें तो यह बात भारत में वैश्वीकरण के संदर्भ में सही मानी जा सकती है। किंतु हम इस बढ़ती अर्थव्यवस्था के बढ़ते चरण को देखते हुए सिर्फ अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से पूरी तरह सहमत नहीं हो सकते। इस अर्थव्यवस्था के बढ़ने के पीछे जो भयावह स्थिति का निर्माण हुआ है उसे भी देखना जरूरी हो जाता है। कई पर्यावरणविद, समाजशास्त्री और आदिवासियों पर विशेष रूप से कार्य करने वाले लेखक/लेखिकाएं उभरते वैश्वीकरण की चुनौतियों को भारत जैसे पारंपरिक देश में जहां उसका अपना सांस्कृतिक मुकाम है, को सही दिशा में उठाया गया कदम नहीं मानते हैं। ये चिंतक इस बात पर जोर देते हैं कि औद्योगीकरण और विकास के नाम पर इनकी परम्पराओं से छेड़-छाड़ न किया जाए। प्रभाकर तिकी के शब्दों में— ‘आदिवासी जानते हैं कि संपूर्ण औद्योगीकरण, बड़े बांध, कृषि की आधुनिक तकनीक के प्रयोगों के दूरगामी परिणाम हितकर नहीं हो सकते, वे नहीं चाहते हैं कि समाज के नैतिक मूल्यों से युक्त सुंदर परम्पराओं का विनाश हो और आधुनिकता के नाम पर किसी भी मूल्य को स्वीकार कर लिया जाए। वे मनुष्य और प्रकृति के संतुलन को समझते हैं, इसलिए ऐसा नहीं चाहते कि एकतरफा विकास की अवधारणा को स्वीकार कर प्रकृति का संतुलन बिगाड़ दें।’<sup>7</sup> इससे पूर्व महात्मा गांधी ने भी हिन्द स्वराज नामक पुस्तक में भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं के हित को देखते हुए औद्योगीकरण की प्रबल आलोचना की थी। महात्मा गांधी के शब्दों में— ‘मशीनें यूरोप को उजाड़ने में लगी हैं और वहां की हवा अब हिंदुस्तान में चल रही है। मशीन की हवा अगर ज्यादा चली तो हिंदुस्तान की बुरी दशा होगी। हम हिंदुस्तान में मिलें कायम करें, बजाय हमारा भला इसी में है कि हम मैनचेस्टर को और भी रुपए भेज कर उसका सड़ा हुआ कपड़ा काम में लें क्योंकि उसका कपड़ा काम में लेने से सिर्फ हमारे पैसे ही जाएंगे हिंदुस्तान में अगर हम मैनचेस्टर कायम करेंगे तो पैसा हिंदुस्तान में ही रहेगा। लेकिन वह पैसा हमारा खून चूसेगा, क्योंकि वह हमारी नीति को बिल्कुल खत्म कर देगा।’<sup>8</sup>

इस तरह देखा जाय तो उपरोक्त तर्क वर्तमान में औद्योगीकरण की नीतियों के पीछे छिपे काले सच को दर्शाता है। आज हम भले ही आर्थिक रूप से वैश्विक स्तर पर एक मजबूत स्थिति में उबर रहे हैं, किन्तु सामाजिक धरातल पर शोषित, वंचित वर्गों के विश्लेषण एवं उनकी मूलभूत आवश्यकताओं के आधार पर अभी

बहुत पीछे हैं।

रणेंद्र अपने उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' में औद्योगीकरण और विकास के नाम पर इन्हीं शोषित, वंचित, सदियों से हाशिए पर धकेल दी गई तथा मुख्यधारा के लिए संघर्षरत समुदायों का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से गहन विश्लेषण करके यथार्थ रूप हमारे समक्ष रखा है।

प्रस्तुत उपन्यास में रणेंद्र व्यापक स्तर पर वैश्वीकरण की चुनौतियों से लड़ने वाले आदिवासियों के संघर्षों की दारुण दशाओं का यथार्थ चित्रण करते हैं। लेकिन उनके नित नए संघर्षों से और फिर से संभल कर खड़ा होने और संघर्ष करने के जज्बे को कमतर नहीं होने दिया है। उपन्यास को बार-बार पढ़ने के बाद यह निश्चित करना कठिन लगता है कि उपन्यास के केंद्र में संघर्ष है या संघर्ष के केंद्र में उपन्यास को रचा गया है। खैर जो भी हो इतना अवश्य है कि यह शोषित वंचित वर्गों के प्रति लेखक की गहन संवेदना का उदाहरण जरूर है।

लेखक ने उपन्यास का केंद्र कोयल बीघा का भौरा पाट क्षेत्र चुना है। इस क्षेत्र में असुर जनजातियों की ठीक-ठाक संख्या विद्यमान है। इसके अतिरिक्त आसपास के क्षेत्रों में बिरहोर, बिरजिया, बैगा आदि आदिम जनजातियां पायी जाती हैं। इस क्षेत्र में लेखक की नियुक्ति सरकारी स्कूल में एक साइंस टीचर के रूप में होती है किंतु इस क्षेत्र के रहन-सहन एवं शिक्षा व्यवस्था को देखकर वह अजीब सी मनः स्थिति का शिकार हो जाता है। उसे बार-बार घर की याद और विधायक जी का वह आश्वासन की कहीं अच्छी जगह ट्रांसफर के आदेश की सूचना दे दी जाएगी। एक हफ्ता गुजर जाने के बाद भी जब लेखक कोई आश्वासन का समाचार नहीं पाता तो धीरे-धीरे पाट (क्षेत्र) के लोगों से उसका संपर्क बढ़ता है। पहले स्कूल की प्यून एतवारी फिर उसका पति गंदुम और बाद में उसकी लिस्ट में लालचन, रुमझुम, डॉ. रामकुमार, सोमा, भीखा, ललिता आदि न जाने कितने पात्र उसकी संवेदना से जुड़ जाते हैं पता ही नहीं चलता। बाद में लेखक भेड़ियों अर्थात् ग्लोबल गांव के देवताओं के कुचक्रों को केंद्र में रखकर वहां के आदिवासियों के क्षेत्रों का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक निरीक्षण करता है तथा पाठक को यह बताने की कोशिश करता है कि किस प्रकार इन भोले भाले जीवों का शोषण किया जा रहा है तथा प्रशासनिक एवं राजनीतिक रवैया इनके प्रति कैसा दुर्व्यवहार कर रही है उसका यथार्थ रूप चित्रित करता है।

बॉक्साइट से सम्पन्न कोयल बीघा का भौरापाट क्षेत्र लेखक के कथा केंद्र में है तथा बॉक्साइट खनन के बाद खानों को न भरे जाने से बरसाती दिनों में पैदा होने वाली बीमारियां जैसे सेरेब्रल मलेरिया उसकी चिंता का मुख्य विषय है। बॉक्साइट की खुली खानों को देखकर उसकी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया वहां के क्षेत्रों के लिए बढ़ जाती है और हम जैसे पाठकों को इसके माध्यम से चिंता में डाल देती है—'बीच-बीच में बॉक्साइट की खुली खानें जहां से बॉक्साइट निकाले जा चुके थे वे गड्डे भी मुँह बाये पड़े थे। मानो धरती के चेहरे पर चेचक के बड़े-बड़े धब्बे हों बरसात में इन गड्डों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहां के लिए महामारी है, महामारी।' [9] अव्यवस्थित सरकारी नीतियों के चलते अनियंत्रित खनन से उत्पन्न होने वाले दूरगामी परिणामों पर दृष्टि डालती हुई रमणिका गुप्ता का भी यही कथन है कि—'कोयला खदानों में विशेषतः मशीनीकृत खनन प्रणाली के चलते खेत दर खेत उजड़ गए और जंगल दर जंगल कट गए। भारी विस्फोटों के कारण पानी के स्रोत या तो सूख गए या उनकी धार बदल गयी। कुएं धंस गए, हरियाली से लहलहाते खेत मुरझा गए खेत गड्डे बन गए और गड्डे बिना घाट के बेमतलब असुरक्षित पोखर।' [10] वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए रमणिका जी की यह चिंता जायज है। वहीं पात्रों के माध्यम से लेखक की यह चिंता भरी प्रतिक्रिया सही लगती है।

जहां राजनीति से प्रेरित इतनी योजनाएं हैं, तो आदिवासियों के लिए आखिर क्या है? एक चिंतनीय प्रश्न उठ खड़ा होता है। आज वैश्वीकरण ने जिस प्रकार से असमान आर्थिक वितरण प्रणाली को बढ़ावा दिया है कि दो देशों के बीच ही नहीं बल्कि विभिन्न देशों की सीमाओं में भी आर्थिक आधार पर अमीरगरीब का दायरा बढ़ गया है। भारत में पिछले 3 दशकों को देखा जाए तो इसमें व्यापक परिवर्तन दिखाई दे रहा है। अमीर, अमीर होता चला गया है और गरीब, गरीब। वर्तमान संदर्भ में रणेंद्र ने दोनों परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है वह लिखते हैं—'हमारा बॉक्साइट यहां से डेढ़-दो सौ किलोमीटर दूर जहां प्रोसेस होकर एल्युमीनियम में ढलता है, वह जगह शसित्वर सिटी आफ इंडिया कहलाती है। एक बार घूमने का मौका मिला था फूलों-पार्कों से लदी हरीभरी खूबसूरत कॉलोनी। एक से एक स्कूल, चमचमाते बाजार, क्लब घर, योगा केंद्र, लाइब्रेरी, खेल के मैदान और ना जाने क्या-क्या! सुंदर-सुंदर कुत्तों को घुमाती सुंदर-सुंदर महिलाएं, बर्फ के गोलों से गुलथुल उजले-उजले बच्चे, रंग बिरंगी गाड़ियां। लगा इंद्रलोक धरती पर उतर आया हो।' [11]

लेखक, गरीबी की भयावह स्थिति का चित्रण करते हुए उपन्यास के उसी परिच्छेद में आगे लिखता है—'पानी और जलावन जुटाने में ही हमारी औरतों की आधी जिंदगी गुजर जाती है। बरसात के गिंजन की तो मत पूछिए। बंद खदान के सैकड़ों गड्डे विशाल पोखरों में बदल जाते हैं। कीचड़ में लोटते सुअरों और हमारे बच्चों में फर्क करना मुश्किल हो जाता है। वहां के गेस्ट हाउस के मेस में छत्तीस तरह के व्यंजन। मुहावरे वाले नहीं, सचमुच के। क्या खाएं—क्या नहीं खाएं! एक ही दिन में पेट खराब हो गया। यहां मकई का घट्टा खा—खाकर जीभ पर घट्टा पड़ जाता है। हमारे ज्यादातर घरों में भात-दाल सब्जी भी पर्व त्योहार का भोजन है।' [12] लेखक ने वैश्वीकरण द्वारा उत्पन्न इन दोनों सामाजिक परिस्थितियों पर एक बार फिर ठहर कर सोचने पर मजबूर कर दिया है। रणेंद्र की इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद मेरा मन बार-बार 'मैला आंचल' और निराला की 'भिक्षुक' कविता की ओर चला जाता है। 'रेणु' द्वारा मैला आंचल में भी सात महीने के बच्चे को बथुआ और पाट के साग पर पलते देखना और अगले परिच्छेद में लिखना कि—'आम से लदे हुए पेड़ों को देखने के पहले उसकी आंखें इंसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर जिंदा रहना है... और ऐसे इंसान? भूखे अतृप्त इंसानों की आत्मा कभी भ्रष्ट नहीं हो या कभी विद्रोह नहीं करे, ऐसी आशा करना बेवकूफी है वह... संतोष कितना महान है जिसके सहारे यह वर्ग जी रहा है।' [13] फणीश्वर नाथ रेणु और रणेंद्र के इन संदर्भों को गौर करें तो पाते हैं कि इन दोनों संदर्भों में लगभग साठ वर्षों का अंतर है इन साठ वर्षों में हमारी सरकार गरीबी कम करने पर कितना काम कर पाई है यह सोचने के लिए मजबूर कर देती है। उपन्यास के पात्र डॉ रामकुमार के शब्दों में कहें तो—'इस पाट पर जीना बहुत कठिन है, मास्टर साहब! किंतु मौत बड़ी आसान है।' [14] बिल्कुल सच साबित होती है।

वैश्वीकरण के आर्थिक प्रवाह और सरकारी नीतियों के लचीलेपन ने समाज के कुछ वर्गों में पूंजी की अनियमित बढ़त के साथ-साथ राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर व्यापक रूप से भ्रष्टाचार को जन्म दिया है, जिसके चलते मध्य वर्ग एवं हाशिए पर जीवन व्यतीत करने वाला वर्ग काफी प्रभावित हुआ है। लेखक ने बहुत ही संजीदगी से इसका चित्रण अपने उपन्यास में किया है—'एक बार पूरी खोजबीन कर अवैध खनन वाली भूमि का मौजा, खाता, प्लाट रकबा वहां से बॉक्साइट ढोने वाली गाड़ियों के नंबर सहित दस-पंद्रह पेज की दरखास्त खुद रुमझुम, लालचंद दा कलेक्टर के ऑफिस में उसके हाथ में हाथ में दे आये। बाद में मालूम हुआ, जिला खनन पदाधिकारी को जांच की जिम्मेदारी सौंपी गई है। बिल्ली को रखवाली का भार!

सो, कुछ न होना था न कुछ हुआ।' [15] राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर न जाने कितने ही उदाहरण प्रस्तुत उपन्यास में देखने को मिलते हैं।

वैश्वीकरण ने आर्थिक उदारीकरण की नीति तथा सरकार पर दबाव बनाकर लाइसेंस राज को खत्म करके मुक्त व्यापार के समझौते द्वारा आदिवासी क्षेत्रों को (जहां कच्चे माल की प्रचुर उपलब्धता है) बर्बाद करने में कोई कसर नहीं छोड़ा है। वे बार-बार इन नीतियों के शिकार होकर आज भी विस्थापन का दर्द झेल रहे हैं। अभी हाल ही में दैनिक समाचार पत्र राजस्थान पत्रिका ने 'आदिवासी मामलों के मंत्रालय' की वेबसाइट से 2014 की रिपोर्ट के

अनुसार बताया कि छत्तीसगढ़ समेत आठ राज्यों 1951 से 1990 के बीच 2 करोड़ 13 लाख आदिवासी विस्थापित हुए हैं। इसके बाद अब तक न जाने कितने विस्थापित हुए सटीक आंकड़ा देना मुश्किल है लेकिन यह तथ्य कुछ देर के लिए ठहर कर बिचारने के लिए मजबूर कर देती है कि क्या आज हम एक बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में उभर रहे हैं क्या वह नींव इन्हीं की कर्बों पर खड़ी की जा रही है। इसके अतिरिक्त लेखक ने कंपनियों की अर्थनीति से प्रेरित आंतरिक मनःस्थितियों पर भी लिखा है— 'सबको केवल बॉक्साइट से मतलब है। उसके बाद मिट्टी भरने का खर्च कंपनी को भारी लगने लगता है, चाहे मुनाफा करोड़ों से अरबों की ओर उछलता जा रहा हो, ये लोग पाट क्षेत्र में एक पैसा खर्च करने के लिए तैयार नहीं हमारे दुख से इन्हें क्या, इनको तो बस अपने मुनाफे से मतलब है।' [16] इसके अतिरिक्त एक बात और है कि इन कंपनियों के लिए जब से सरकारी हस्तक्षेप (लाइसेंस राज) कम हुआ है, तब से एक ऐसे वर्ग का उभार देखने को मिलता है, जो बिचौलिए (ब्रोकर्स) का कार्य करता है। लेखक के उपन्यास में ये बिचौलिए गोणू सिंह उर्फ गड़ेश्वर, शिवदास बाबा, किशन कन्हैया पांडे बार-बार आते हैं, और सीधे साधे आदिवासियों को बहला-फुसलाकर उनकी जमीन हड़पने से लेकर शारीरिक शोषण तक पीछे साए की तरह मंडराते रहते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में सोमा का बाबा परिस्थितिवश इन बिचौलियों का शिकार होकर मात्र पांच हजार में जमीन कंपनी एजेंट को दे देना तथा यह न सोचना कि उसके परिवार कैसे जिएंगे या आगे की आर्थिक स्थिति क्या होगी? मन विचारणीय प्रश्न छोड़ देता है। वहीं दूसरी ओर लेखक गुप्ता जी के माध्यम से बिचौलिए के असली चरित्र का वर्णन करता है— 'अरे ! का काम करना है, हो। हमारे जैसा मातबर आदमी भी कुदार फाड़ेगा तो कोल— बकलोल का करेगा? काम—वाम नहीं करते हैं। ई माइन्स मालिक लोगों के मुंह में हाथ डालकर मनचाहा निकाल लेते हैं। बबवा (शिवदास बाबा) बोलता है दू रुपया, हम हंसोसते हैं चार रुपया। बबवा का मुंह मांगा बबवा के पास बाकी हमारे पास। ई 38—40 सब माइन्स से महीना फिक्स है। फिक्स। समझे कि नहीं।' [17] इन दोनों ही परिस्थितियों का चित्रण जिसमें एक तरफ सोमा के बाबा की लाचारी और दूसरी ओर बिचौलियों की निरस अनर्गल बातें इनके स्वार्थ को सिद्ध करती हैं, और ये नहीं सोच रहे हैं कि आखिर थोड़े से फायदे के लिए औने-पौने दामों में भेड़ियों (ग्लोबल गांव के देवताओं) को जमीनें बेचकर अपने ही पैर पर कूल्हाड़ी मार रहे हैं। इन दोनों परिस्थितियों के चित्रण में लेखक, मानसिक द्वंद में कितना तादात्म्य बैठाकर चित्रित किया होगा सामान्य पाठक के लिए अकल्पनीय है।

लेखक उपन्यास में निहित समाजार्थिक यथास्थितियों के साथ वैश्वीकरण की उस नीति की ओर भी अपनी दृष्टि बनाए रखी है, जहां वस्तुओं की मांग के अनुरूप मूल्यों को आंका जाता है। उपन्यास में शिवदास बाबा का धार्मिक कंठी अभियान और धर्म की आड़ में काले पशुओं का व्यापार इसी दृष्टि का परिचायक है— 'सबसे बुरा हाल तो काले रंग के पशुओं का हुआ। कोई कंठी धारी भगत अब अपने घर में काले रंग की गाय-गरु, मुर्गी,

सूअर कुछ भी रखने को तैयार नहीं था... हाटों में काले पशुओं की इतनी आमद बढ़ी कि इनकी कीमतें अचानक नीचे गिर गयीं। व्यापारियों को सारी बातों की खबर थी। वे मिट्टी के भाव इन पशुओं को खरीदते हुए ऐसे नखरे दिखाते मानो वे आदिवासी किसानों पर उपकार कर रहे हों। ये गाय गरु, मुर्गी, सूअर केवल पशु नहीं, बल्कि उनकी जमा पूंजी थे, घरेलू बैंक के पासबुक। हारी— बीमारी, शादी—ब्याह अन्य प्रयोजनों में यही काम आते हैं। किंतु शिवदास बाबा के एक चमत्कार ने इन घरेलू बैंकों को एक झटके में दिवालिया कर दिया और मजे की बात तो यह कि उन्हें खबर तक नहीं हुई।' [18]

इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने वैश्वीकरण के भंवर और राजनैतिक दुरभिसंधियों के बीच फंसे आदिवासियों के उन स्वरूपों का भी चित्रण किया है जो संघर्ष के बीच फंसकर अपनी अस्मिता, मूल्य और संस्कृतियों को इस बलवती आंधी में खोते जा रहे हैं। जो कहीं न कहीं भारी चिंता प्रकट करती है। उपन्यास के अंत में रुमझुम की वेदनापूर्ण अस्मिता एवं मूल्यबोध की दुहाई देती चिह्नी निरंतर पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचती है। उपन्यासकार, रुमझुम के माध्यम से शाब्दिक अभिव्यक्ति देता हुआ लिखता है— 'मजबूरन पाट देवता की छाती पर हल चला कर हमने खेती शुरू की। किन्तु बॉक्साइट के वैध-अवैध खदान, विशालकाय अजगर की तरह हमारी जमीन को निगलता जा रहा है।'

...महोदय, शायद आपको पता हो कि हम असुर अब सिर्फ आठ—नौ हजार ही बचे हैं। हम बहुत उरे हुए हैं। हम खत्म होना नहीं चाहते। भेड़िया अभ्यारण से कीमती भेड़िये जरूर बच जाएंगे श्रीमान। किंतु हमारी जाति नष्ट हो जाएगी।' [19] लेखक के गहन चिंतन के प्रतिक्रिया स्वरूप कई ऐसे प्रसंग उपन्यास में हमें बार-बार देखने को मिलते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में वैश्वीकरण की चुनौतियों से निपटने के लिए संघर्ष की व्यापक भूमि दिखाई देती है। लेखक लालचन दा, डॉ. रामकुमार, सोमा और भीखा आदि पात्रों के माध्यम से पाट पर एकाधिकार जमाये ग्लोबल गांव के देवताओं से संघर्ष की एक-एक कड़ी जोड़ता है। उपन्यास का पात्र सोमा कहता है— 'अब जो हुआ सो हुआ। उसे पकड़कर रोने से कोई फायदा नहीं। अब जो करना है अपने भरोसे करना है। पाट देवता के भरोसे। सारे असुर उरांव जोड़कर।' [20] और इसी तरह लेखक एक बड़ी श्रृंखला इसके प्रतिरोध में खड़ी कर देवताओं के आसन को डिगा देने की भरपूर कोशिश करता है। संघर्ष की लंबी परंपरा के साथ-साथ लेखक आदिवासी परंपराओं में भी भरपूर जिया है। उपन्यास में कई ऐसे प्रसंग आये हैं जो यह प्रदर्शित करते हैं कि वह सिर्फ दर्शक ही नहीं है। बल्कि पाट के लोगों के अंतर्मन में भी अपनी उपस्थिति दर्ज किया हुआ है। ललिता से सहिया जोड़ने की परंपरा और पाट के लोगों द्वारा नृत्य के अभिनय की कवितारूपी सौंदर्य मिश्रित कल्पना इस प्रमाण को सिद्ध करती है— 'यह झूमर नाच भी क्या था? अर्धवृत्ताकार में झुककर कुछ कदम आगे बढ़ना फिर सिर उठाकर पीछे हटना। मानो हरे-भरे धान के खेत में हवा बह रही हो और फसल हवा के संग झूम कर झुक रही हो, उठ रही हो, उठ रही हो मानव बाँस का जंगल तेज हवा के साथ लचक-लचक कर किलोल कर रहा हो। मानो नदियों की लहरें धीमी लय में गिर-उठ रही हों। आकाश में पंछी, समूह में उड़ान भरते घोसले को वापस जा रहे हों। प्रकृति खुद अपने आदिम रूप में पूरे ब्रह्मांड के दिव्य नाच के साथ एकाकार हो रही थी।' [21] फिर भी लेखक इन सबके बीच जीते हुए बार-बार ग्लोबल गांव के देवताओं की नीतियों से अपने आपको मुक्त नहीं कर पाया है। वह बार-बार आदिवासियों के विस्थापन की चिंता से घिरा रहता है।

आखिर वह दिन आ ही जाता है जब ग्लोबल आकाश चारी देवताओं के आर्थिक दबाव से राष्ट्र-राज्य का प्रशासन मिलकर

उन्हें भगाने की मुहिम छेड़ देते हैं। वन विभाग की नोटिस एक क्षण में राख में दबी हुई आग को सजीव कर देती है— 'वन विभाग ने खतियान में दर्ज सैंतीस वन गांव को खाली करने की नोटिस दिया है। क्या तो भेड़िया सब को बचाने के लिए कोई योजना है। क्या तो अभ्यारण बोल रहे थे। इतना टेढ़ा नाम है, तब ही तो काम भी टेढ़ा हो रहा है... सुनते ही सन्नाटा छा गया।' [22] यह सन्नाटा मात्र सन्नाटा नहीं था अपितु संघर्ष रूपी आंधी आने का सन्नाटा था। ग्लोबल गांव के देवताओं के दमनिय नीतियों पर आक्रमण करने के पूर्व का सन्नाटा था। आदिवासी पूरी तरह जान गए थे 'वेदांग' जैसी बड़ी कंपनी का छोटे काम में हाथ डालने के राज से परिचित हो गए थे— 'इतनी बड़ी कंपनी ने इतने छोटे काम में हाथ डाला, इसमें जरूर कोई राज है। बहुत वर्षों से इस इलाके से बॉक्साइट बाहर नहीं भेजकर यहीं कारखाना खोलने की बात उठती रही है। लगता है वेदांग उसी टोह में आ रहा है। ग्लोबल गांव का देवता है वेदांग। यह अंगुली पकड़ कर बांह पकड़ने वाली बात लगती है।' [23] इस तरह पाट पर बढ़ते ग्लोबल गांव के देवताओं के हलचल ने संघर्ष की भूमि तैयार कर दी। 'जान देंगे—जमीन नहीं देंगे' का नारा बुलंद कर आदिवासी संघर्ष में कूद पड़े। पाट पर लालचन दा की शसंघर्ष समिति ने कप! लगाकर प्रशासनिक हस्तक्षेप को काबू करने का क्षणिक मात्र असफल प्रयास किया। वस्तुतः यह आदिवासियों द्वारा आर्थिक एकता के आगे सामाजिक सांगठनिक एकता का दम्भ मात्र था जो धीरे—धीरे धरासाई हो गया। मुम्बई के फाइव स्टार होटल में बाबा जी और विधायक जी की देवताओं से पाट की सौदेबाजी तय हो गयी और रुमझुम द्वारा पीएमओ को लिखी गयी कारुणिक चिट्ठी, अस्मिता की दुहाई देती सौदेबाजी की भेंट चढ़ गई।

कुल मिलाकर देखा जाए तो लेखक ने अपने इस छोटे से उपन्यास में वैश्वीकरण की अपसंस्कृति का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से व्यापक चित्रण किया है। पाट पर नियुक्ति से लेकर संघर्ष की अंतिम कड़ी तक लेखक आदिवासियों की समस्याओं के प्रति चिंतित दिखाई देता है। शिंडालको और वेदांग जैसी कंपनियों की लूटनीति तथा उससे उत्पन्न आदिवासियों के विस्थापन की चिंता बार—बार उपन्यास में दिखाई देती है। वैध—अवैध खनन के कारण खुले गड्ढों से उत्पन्न होने वाली बीमारियां तथा बढ़ते औद्योगीकरण के कारण पाट पर बढ़ रही बिचौलियों की शोषण की राजनीति पाठक को सोचने के लिए मजबूर कर देती है। प्रशासन एवं स्थानीय राजनीति की मिलीभगत से पिस रहे आदिवासियों की दारुण दशाएं और रुमझुम द्वारा पीएमओ को लिखी गयी करुण संवेदना से भरी चिट्ठी वैश्वीकरण के विकासात्मक दौड़ की यथार्थवयता को दर्शाती है।

### संदर्भ

1. 'ीजजचरुध्मदूपचपकमकपंपवतहधूपधसवइंसप्रंजपवद' 52
2. 'ीजजचरुध्मदूपचमकपंपवतहधूपधसवइंसप्रंजपवद.
3. 'वावितक कपबजपवदंतलए वावितक न्दपअमतेपजल च्त्तमे चंहमण 52
4. पुष्पाल सिंह, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास पृ. 7
5. अभय कुमार दुबे (सं.) भारत का भूमंडलीकरण, पृ. 21
6. 'उतंजलैमदए भू जव श्रनकहम लसवइंसपेउ चंहमण 16
7. रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी : विकास से विस्थापन, पृ. 48
8. महात्मा गांधी, हिन्द स्वराज, पृ. 71
9. रणेंद्र, ग्लोबल गांव के देवता, पृ. 9
10. रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी : विकास से विस्थापन, पृ. 77
11. 'वही' पृ.16

12. 'वही' पृ.17
13. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला अंचल, पृ.174
14. रणेंद्र, ग्लोबल गांव के देवता, पृ. 13
15. 'वही' पृ. 27
16. 'वही' पृ. 62
17. 'वही' पृ.74
18. 'वही' पृ. 58
19. 'वही' पृ. 84
20. 'वही' पृ. 73
21. 'वही' पृ. 78
22. 'वही' पृ. 78
23. 'वही' पृ. 80